# मजहब नहीं : हक़ की बात है यह

– सुनीता ठाकुर

*पुरुष प्रधान समाज में औरतों के अधिकार को लेकर एक अर्से से व्यापक बहस चल रही है। शिक्षा, जागरूकता एवं कानूनी पहल के जरिए औरतों की स्थिति को सुधारने की प्रक्रिया भी लगातार जारी है परंतु दुःख तब होता है जब मजहबी मुलम्मा इन प्रक्रियाओं के आड़े आकर स्त्री–समाज को बांटते हुए उन्हें अलग–थलग करने की कोशिश करने लगता है। दुनिया के हर कोने में औरत का दर्द, उसकी पीड़ा और उसकी दास्ताँ लगभग एक जैसी हैं। औरत को सम्मानपूर्वक जीने का हक दिलाने के लिए जरूरत है उसे औरत के नजरिए से देखा जाए। प्रस्तुत आलेख इसी नजरिए की ओर इशारा करता है।*

आजकल हिन्दुस्तान में ही क्यों सारी दुनिया में मुस्लिम महिलाएं अपनी ज़िन्दगी के तमाम पहलुओं को टटोल कर देख रही हैं। बदलाव का रास्ता ढूंढ रही हैं। इन चर्चाओं में सवाल बार बार उठते हैं। हमें शरीयत और मजहबी ताकतों के साथ चलना चाहिए याकि औरतों के हकों की मुहिम को मजहबी दायरों से अलैदा रखना चाहिए।

इस सवाल के बारे में आज मेरी जो समझ है, वह काफ़ी हद तक 'मुस्लिम विमेन राइट्स नेटवर्क' नामक नेटवर्क से जुड़ने और अन्य नारीवादी संस्थाओं के साथ चर्चा और बहस के दौरान ही बनी है। मुझे लगता है कि नेटवर्क के बाहर भी इस सवाल पर खुली चर्चा होनी चाहिए। आख़िर मुस्लिम औरतों के साथ काम करने वाले कई सामाजिक संगठन भी तो हैं जो इस सवाल में उलझे हैं। मुझे लगता है कि एक नारीवादी नज़रिए से इस विषय का विश्लेषण करना जरूरी है–इसी विश्लेषण के कुछ बिंदु इस लेख में आपके सामने रख रही हूं।

मेरे लिए अहम सवाल है मकसद का। नारीवादी होने के नाते हम क्या चाहते हैं। क्या हम इस्लाम मे औरतों की बेहतर तस्वीर पेश करने और प्रचार करने के लिए आगे आए थे या हम चाहते थे कि मुस्लिम महिलाओं को तमाम मजहबी ज़्यादतियों से ऊपर उठकर उनकी पहचान और हक़ मिले।

हममें से बहुतों को लगता है कि हमारा मकसद औरतों के हक़ों की नुमाइंदगी करना है न कि मजहबी ताकतों के साथ बहस में उलझना। अगर हम अपने उद्देश्य में बिल्कुल साफ़ नजर रखते हैं तो हमें इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि कोई मजहबी ताक़तें हमारे साथ हैं या नहीं। हम न उनके खिलाफ़ हैं और न उनके पक्ष में। हां, अगर कोई भी मजहबी संगठन हमारे साथ बातचीत का रूख अपनाता है तो हमें उनसे टकराव का कोई रास्ता भी नहीं रखना है। नारीवादी होने के नाते हमारा लक्ष्य और मजहब सिर्फ़ एक होना चाहिए– औरतों के हक़।

मैं मुस्लिम नहीं हूं, लेकिन मैं भी एक औरत होने के नाते धर्म से जुड़े सवाल और समस्याओं से जूझ रही हूं। हम सबको अपने आप से यही सवाल अक्सर करना पड़ता है। अगर अपने मजहबी कायदे कानूनों से हम पूरी तरह खुश थीं तो हम हक की लड़ाई में क्यों कूदीं? क्या था जो हमें अपने ही धर्म और अपने ही मजहब में नहीं मिल रहा था। क्या था जिसने हमें अपने ही मजहब में एक अजीब से डर और असुरक्षा से घिरा हुआ अहसास दिलाया। क्या था जिसने हमारे अपने ही परिवारों में, हमारे अपने ही घरों में, हमारे अपने ही शरीरों पर बदिशें और दायरे कस दिए। जिनके रहते हम खुद को कभी आज़ाद नहीं कर पाईं।

नारीवादी होने के नाते हमारी पहली लड़ाई खुद से होती है। हमारे भीतर छिपी औरत की पहचान के लिए हम आगे आई हैं। हमें अपने दायरों से दिक़्क़त थी इसीलिए हम बाहर निकलीं। हम आत्मनिर्भरता, आज़ादी, पहचान और खुद्दारी के लिए आगे आई थीं। अपने भीतर की इस आग को लेकर जब हम तमाम ताकतों के खिलाफ़ खड़ी होती हैं तो पहले ज़रूर अकेली होती हैं।

हमारा मकसद बस इतनी सी पहल करना होना चाहिए न कि मजहबी डिबेट में फंसना। पहला साहस तो हमें ही जुटाना होगा गलत को गलत कहने का। भले ही वो मजहब के बाहर हो या मजहब के अंदर। अपने हक़ की लड़ाई में हम सब औरतें एक हैं भले ही किसी भी धर्म या मजहब से हों।

जहां तक सामाजिक कार्यकर्ताओं के सवाल हैं सबसे पहले ज़रूरी है मुस्लिम महिलाओं के मुद्दों को पहचानना। उन पर काम करने की सार्थक रणनीतियां तय करना। हमें समझना होगा कि ऐसे कौन से सवाल हैं जो मुस्लिम औरतों को अन्य औरतों की तरह ही परिवार और समाज में हाशिए पर खड़ा करते हैं, दोयम दर्जा देते हैं। फिर कौन से ऐसे सवाल हैं जो सिर्फ़ मुस्लिम महिलाओं को ही भेदभाव, उपेक्षा और हिंसा झेलने पर मजबूर करते हैं। जो औरत होने के नाते उनकी दोयम पहचान को सिर्फ़ मुस्लिम औरत होने के नाते और भी धूमिल बना देते हैं। इसके लिए कौन ज़िम्मेदार है? मजहबी ताकतों के साथ साथ उसमें सियासत का कितना हाथ है? जब तक हम मजहब और सियासत के खेल से बाहर रहकर उसे नहीं समझेंगे, हम खुद अपने साथ न्याय नहीं कर पाएंगे।

राजनैतिक स्तर पर हम औरतों को अपनी मजहबी बहुलता या अल्पसंख्यकता का फायदा और नुकसान उठाना पड़ता है। यह एक कड़वा सच है कि सिर्फ़ मुस्लिम होने के नाते मुस्लिम औरतों को कौमवादी हिंसा, राजनैतिक दुराव और प्रशासनिक उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। अजीब विडंबना है कि पारिवारिक और सामाजिक, राजनैतिक और मजहबी स्तर पर औरतों पर हिंसा के रूप और मायने इतने समान हैं! मसलन मैं कहूं कि अगर आज मुस्लिम औरत होने के नाते दंगों में मुझे हिंसा और अपमान का सामना करना पड़ता है तो कल किसी और मजहबी दंगे में हिंदू औरत होने के नाते वही हिंसा और अपमान झेलना पड़ सकता है।

धर्म या मजहब पुरूषों की गढ़ी सोच का नमूना है। उनमें वही लिखा है जो पुरुष चाहते थे। यह मजहबी लड़ाई पुरूषों के अहम् और सत्ता की लड़ाई है। उसमें औरतों को महज एक खिलौने की तरह इस्तेमाल करने की राजनीति को हमें समझना होगा। अगर सचमुच किसी भी धर्म या मजहब में औरतों के प्रति सम्मान बराबरी होती तो औरतों को दंगों में मोहर/निशाना बनाया नहीं जाता। यानि मजहबी दंगों में हर औरत पर हिंसा का सच एक ही होता है। फ़र्क़ पड़ता है तो दंगाई पुरुषों की तादाद से। क्या धर्म बदल जाने से औरत

होने के नाते हिंसा और दोयम होने की तकलीफ़ अलग हो जाती है। मैं हरगिज ऐसा मानने को तैयार नहीं हूं। मुझे लगता है कि अगर हम इसी सोच के साथ आंदोलन खड़ा करने की बात सोच भी रहे हैं तो वह बहुत सार्थक पहल होने वाली नहीं है।

मैं यहां एक ही बात पर जोर देना चाहती हूं कि यह सारी लड़ाई पुरुषों और स्त्रियों के बीच सत्ता की लड़ाई है। नियंत्रण की लड़ाई है। वरना क्या कारण है कि जब औरतों पर हिंसा और बलात्कार जैसे मुद्दों की बात आती है तो हर मजहब के पुरुष की जबान खामोश हो जाती है। जैसे औरतों के लिए न्याय, पहचान और सम्मान की कोई तरफ़दारी हो ही नहीं सकती।

हर मजहब में औरतों को पुरुषों के अधीन और सेवा में रहने के पाठ पढ़ाए गए हैं। हम औरतें खुश हो जाती हैं कि हमारे धर्म में हमें इतना सम्मान दिया या देवी का दर्जा दिया, पर जब उसी मजहब में खामियों की बात आती है तो हम खतरा महसूस करने लगते हैं।

खतरों को उठाना तो हमें होगा ही इसी के लिए हमने अपनी लड़ाई शुरू की थी। ये तरीके आज भले ही टकराव का रास्ता न अपनाएं। आज भले ही हम कहीं समझौतावादी और सुधारवादी रुख लेकर चलें, पर जब कभी भी औरतों के सवालों पर अपनी बेबाक राय जाहिर करने का साहस कर पाएंगे इसी खतरे में पड़ जाएंगे। वही लोग हमारे खिलाफ़ खड़े होंगे जिन्हें आज हम अपनी सुधारवादी मुहिम में हमराह बनाने की बात सोच रहे हैं। इसलिए बेहतर है हम अपना रास्ता लें और मजहबी जबान बोलने से बाज आएं।

बात हिंदू और मुस्लिम से ज़्यादा उन ताकतों को पहचानने की है जो औरतों को सिर्फ़ औरत होने के नाते एक इंसानी पहचान देने से इंकार करती है। वह चाहे मजहब के भीतर हो या परिवार या फिर सियासी और हुकुमत में। दूसरी बात, हमें उन ताकतों को लगातार चुनौती देनी होगी जो मुस्लिमों के प्रति एक खास छवि और पहचान का निर्माण करते हैं। इन छवियों और पहचानों को बनाने में जितनी बड़ी भूमिका मीडिया, और अन्य ताकतों की होती है, उतनी ही बड़ी भूमिका कट्टरपंथियों की भी होती है जो रूढ़ छवियों और पहचानों से परे जाकर जीने की कोशिश करने वाली मुस्लिम औरतों के खिलाफ़ फतवे जारी करते हैं या फिर सजा सुनाते हैं।

जब हम मजहबी ताकतों के साथ चलने और उन्हें इस्तेमाल करने की बात करते हैं तो बहुत बड़ा खतरा खुद इस्तेमाल हो जाने का होता है। मजहब अपने प्रचार और मजहबी कायदे कानूनों को लागू करने के लिए, अवाम में उन्हें फैलाने के लिए हमें ही हथियार बना सकता है। और जब तक आप इस तालमेल को बनाए रह पाते हैं तब तक सब ठीक चलता है, जहां आप इस तालमेल के खिलाफ़ होते हैं वहां आप मजहबी ताकतों के निशाने पर आ सकते हैं। कारण मजहब अपने कट्टरवादी रूप में किसी चीज से समझौता नहीं करता। मजहब और सियासत के गहरे रिश्ते को समझे और जाने बिना हम मजहबी ताकतों के इस्तेमाल की बात सोच भी कैसे सकते हैं। भले ही वह किसी पाक मुद्दे के लिए ही हो।

जब औरतों के हक हकूकों की बात आती है तो कोई भी धर्म और कोई भी संस्कृति अपने पांव समेट लेती है। वहां उन्हें जैसे सारा ध र्म, मजहब और परंपराएं खतरे में जान पड़ने लगती हैं। धर्म और मजहब औरतों को दबाने और दोयम रखने के सबसे सस्ते टिकाऊ और बेहतर साधन हैं।

हमारी दुश्मनी नहीं है किसी भी धर्म से। वह तो निहायत पर्सनल मामला है। आप श्रद्धा रखते हैं तो अपनाइए, नहीं रखते तो मत अपनाइए।

हम इस मुल्क में हिन्दुओं और मुस्लिमों की साझी विरासत और संस्कृति को नकार नहीं सकते। हमारा साझा इतिहास और साझी संस्कृति आज देश की खास पहचान बन चुकी है। हां यह ज़रूर है सियासी मतलबों के लिए हिन्दू मुस्लिम विवाद और हिन्दुत्व या इस्लाम खतरे में जैसे बहुत से नारे हवा में आए दिन उछलते हैं। जबकि न तो हिन्दुत्व का कुछ बिगड़ता है न इस्लाम का। बिगड़ता है तो मजहबी दंगों में बेकसूर औरतों और बच्चों का जो कभी शहादत तो कभी मजहबी झगड़ों के नाम पर अमानवीय हिंसा का शिकार बनाए जाते हैं। ऐसे दंगों का इतिहास बना दिए जाते हैं जिनका कोई न्याय नहीं होता।

मजहब के नाम पर औरत को देवी बनाकर पूजते हैं और उसी औरत को मजहबी दंगों के नाम पर बेइज़्ज़त करते हैं। तो हम औरतों को ही खुद सोचना होगा कि हमें ऐसे धर्म और मजहब का क्या करना है जो हमें महज एक इंसानी शख्सियत के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता, बराबरी और सम्मान की पहचान नहीं दे सकता। फिर हम इस खुशफहमी में रहना चाहते हैं कि मजहबी दस्तूरों और ताकतों को हम अपने मकसद के लिए इस्तेमाल कर पाएंगे। पहले हम इन मजहबी ताकतों के गहरे और दोहरे रंग को तो समझ लें, जिनके रहते एक ओर तो हम त्याग की मूर्ति बनाकर आज़ादी से महरूम की जाती हैं और दूसरी ओर थोड़ी सी आज़ादी का इस्तेमाल करने पर मौत के फरमानों पर शहीद कर दी जाती हैं।

हम किसी बहन से उसका मजहब या मजहबी पहचान छीनने के बारे में सोच भी नहीं सकते। मगर वही मजहबी पहचानें अगर हमारे वजूद/तरक़्क़ी में बाधा बनें तो हमें क्या करना चाहिए। इसलिए ग़लत को शुरू से ही ग़लत कहने का खतरा और बेबाकी तो हमें अपनानी ही होगी। ज़रूरी है कि हम व्यक्तिगत कानूनों में औरतों की नज़र से बदलाव और सुधार की संभावनाओं को तलाशें। औरतों को जागरूक करें और अपने हकों की लड़ाई में एकजुट हों।

मजहबी तरीकों से बदलाव की कोशिशों में ही इतने साल हम जाया कर आए हैं। अब समय है जब हम सिर्फ़ अपने बूते पर पहल करें, न कि मजहबी आक़ाओं के साथ सुधार की गुजारिश। हम जो भी तरीके अपनाएं उनमें खुलापन और बेबाकी हो साफ़गोई हो। मजहबी तौर तरीके अपनाकर घरेलू औरतों को बरगलाने का इल्जाम सिर पर भी लेना पड़ सकता है। बेहतर है। हम अपने मकसद को खुले शब्दों में बयां करें और अपना रास्ता खुद गढ़ें। अपनी राह चलते हुए प्रेरित करें कि बहनें आएं और हमसे जुड़े। हमारी बातें सुनें, तैयार हों। खुद अपनी आवाज़ उठाने के लिए। जब तक वे खुद तैयार नहीं होंगी – हम कुछ कर नहीं पाएंगी।

हमारा मकसद नहीं है औरतें ईद और दीवाली मनाएं या नहीं–हमारा मकसद है कि हम इन मौकों पर खुद को कितनी खुशी दे पाती हैं। कितनी आज़ादी और खुद्दारी के साथ इन त्योहारों को मना पाती हैं। भले ही वे नमाज अदा करें या पूजा करें, पर निर्णय उनका हो–और यह काम इतना भी मुश्किल नहीं है–यकीन मानिए।